

सड़कों पर कांवड़ियों के शोर का आध्यात्म



क्या शोर में भी नशा होता है? हाँ, शोर भी नशा पैदा कर सकता है, खासतौर से अगर वह एक भीड़ के सर पर, भले ही संगीत के नाम पर ही क्यों न पैदा किया जा रहा है? अगर आप पश्चिमी उत्तर प्रदेश में एक ऐसे ट्रक के बगल से गुजरें जिस पर तेज़ आवाज़ में डीजे बज रहा है और जिसके चारों तरफ किसी बाजार बम्बिया फिल्म की धुन पर कांवड़िए नाच रहे हों तो उन्हें देखकर आपके मन में श्रद्धा नहीं खोफ का अनुभव होगा। शोर के नशे में वे ट्रांस में लगते हैं। भारतीय सन्दर्भ में उनका समतुल्य मातम करती मुहर्रम की भीड़ हो सकती है। शोर शराबा भीड़ के लिए नशे की तरह होता है।

यदि दुर्घट्या से पूरी सड़क धेर कर बेतरीब नाच रहे कांवड़ियों से कोई वाहन छू भी जाए तो उसकी शामत आ जायेगी। इस साल दिल्ली और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कई जिलों में इन मदमस्त तथाकथित शिव भक्तों के प्रकोप का शिकार कई वाहन और उनके चालक हुए हैं। इन घटनाओं के जो विजुअल्स मीडिया पर वायरल हुए उनमें से दो काफी दिनों तक अपने दर्शकों की स्मृतियों से ओझल नहीं हो सकेंगे— लगभग 4 साल पहले राजधानी दिल्ली में एक असहाय महिला कार चालक अपनी जान बचाकर भाग रही है और कांवड़िये उसकी कार को पलट कर अपने ढंडों से पीट-पीट कर तोड़ रहे हैं। दूसरा अपनी बच्ची को स्कूल छोड़ने जा रहे मुजफ्फरनगर के एक असहाय पिता का है, जिसकी कार को उत्तेजित कांवड़िये धेरे हुए हैं और वह खुद को बच्ची के साथ वाहन के अंदर बंद कर डरी हुई नहीं सी जान के मनोविज्ञान पर पड़ने वाले दीर्घकालिक दुष्प्रभाव के बारे में सोच रहा है।

कुछ साल से पहली बार एक मुख्यमंत्री ने गर्व से घोषित किया कि कांवड़ियों को डीजे बजाने का अधिकार दिया गया है। डीजे के भक्तभोगी जानते हैं कि उसका आध्यात्म और संगीत के कोमल भावों से कोई लेना देना नहीं है। शोर शराबे से भेरे डीजे ध्वनि से जुड़े पर्यावरण के तमाम अदालती आदेशों और कानूनी प्राविधानों का खुला उल्लंघन करते हैं पर अगर खुद मुख्यमंत्री उनको अस्मिता से जोड़ रहा हो तो फिर कौन उन्हें रोकेगा? डीजे को प्रोत्साहन पिछले दो दशकों से कांवड़ियों के समक्ष राज्य के समर्पण से जोड़ कर देखा जा सकता है। राज्य के घुटना टेकने के कारण उनकी अपेक्षायें और मार्गे भी साल दर साल बढ़ती गई हैं। फुटपाथ से शुरू होकर अब उनकी मांग आधी सड़क के अवाध इसेमाल तक पहुंच गयी है। आधी भी वस्तुतः पूरी सड़क पर उनके कब्जे की पूर्व पीठिक है। धीरे-धीरे पूरी सड़क राज्य के आदेश से उनके लिए सुरक्षित कर दी जाती है। दिल्ली से देहरादून जाने वाला राष्ट्रीय राजमार्ग-58 इसका एक उदाहरण है, जिस पर सावन मास के दौरान भारी वाहनों का चलना प्रतिबंधित हो जाता है और इस पर चलने वाले हजारों यात्री ज्यादा दूरी, समय और पैसे की मार सहते हुए असुविधाजनक यात्रायें करते हैं। भारत में क्षतिपूर्ति का कोई कानून नहीं है, जिसके तहत आम नागरिक राज्य से अपने खोये समय या नष्ट हुई सम्पत्ति के लिए मुआवजा मांग सके, इसलिए भी वे मनमाने आदेशों या अपनी हिफाजत के लिए बनी संस्थाओं की नालायकी को चुपचाप झेलने के लिए अभिशप है।

पिछले कुछ वर्षों से डाक कांवड़ नाम का एक नया प्रकोप नागरिकों को झेलना पड़ रहा है जिसमें कांवड़ियों को पैदल चलने का कष्ट भी नहीं उठाना पड़ता। गंगा जल के स्रोत और शिव मन्दिर तक यात्रा का अधिकांश दो पहिया या चार पहिया वाहनों से तय किया जाता है। बेतरीब भागते इन वाहनों को देखकर समझा जा सकता है कि कानून क्रायदांकों का उनके लिए क्या महत्व है? उन्हें अनुशासित करने की जगह मुकामी पुलिस का पूरा ध्यान उन्हें अपने इलाके से बाहर निकालन पर रहता है।

कांवड़ यात्रा वस्तुतः राज्य द्वारा भीड़ के सामने पूरी तरह से समर्पण की गाथा है। पिछले दो दशकों के दौरान राज्य ने नागरिकों की हिफाजत और ट्रैफिक प्रबन्धन जैसी अपनी जिम्मेदारियों से पूरी तरह मुंह मोड़ लिया है। वे सैलाब की तरह गुजरते हैं और राज्य चुपचाप रास्ते भर उनके द्वारा किये जाने वाले विनाश को दुकर दुकर देखता रहता है। मार्ग में पड़ने वाले अल्पसंख्यकों के गांव, आम-अमरुद से लद बाग या सड़कों पर चल रहे वाहन, उनके द्वारा किये जाने वाले विनाश की गाथाएं सुनते रहते हैं। सड़कों पर राज्य की सर्वाधिक दृश्यमान उपस्थिति पुलिस उनके सामने असहाय दिखती है। इस साल तो कई जगहों पर जब उसने सड़कों पर अनुशासन कायम करने की कोशिश की, उसी की पिटाई हुई। राज्य ने खाकी वर्दी से कांवड़ियों पर आसमान से फूल बरसवाये और बाजारों में उनके गलों में माला डलवाई-संदेश बड़ा साफ़ था कि वे पवित्र और क्रानून से ऊपर हैं। यह कथा साल दर साल चलती रहती है। ज्यादा शोरगुल होने पर कुछ एफ.आई.आर. दर्ज भी होती हैं पर यह देखना भी मुनासिब होगा कि उनमें हुआ क्या? क्या कभी किसी मुकदमे में दोषियों को सजा मिली भी?

इन यात्राओं का एक दिलचस्प अर्थशास्त्र विकसित हो गया है। स्वैच्छिक से अधिक बलात इकट्ठे किये गये चन्दों से रस्ते भर व्यक्ति तम्बुओं और उनमें चौबीस धंटे चल रहे भंडरों की व्यवस्था की जाती है। चन्दों की रसीदों या आडिट की बात भी सोचना हास्यास्पद है। अतः कल्पना की जा सकती है कि कितना श्रद्धालुओं पर खर्च हुआ और कितना काला धन बना। ये सुविधाएं भीड़-भाड़ वाली सड़कों पर कहीं भी खड़ी की जा सकती है और कोई जरूरी नहीं कि इनके लिए सक्षम प्राधिकारियों से अनुमति लानी ही गयी हो बेरोजगारी से ज़ज़ते अनिश्चित भविष्य वाले नौजवानों को इन यात्राओं से एक खास तरह की पहचान भी मिलती है। अल्प अवधि के लिए ही सही यात्रा उन्हें अपनी निरुद्देश्य भटकती जिन्दी में एक लंगर जैसी प्रतीत होती है। इसलिए भी साल दर साल यात्राओं में भीड़ बढ़ती जा रही है।

हमें ध्यान रखना चाहिए कि उद्दं यात्रियों की वजह से उन धर्मभीरु और शांत स्वभाव के कांवड़ियों की छवि भी खराब होती है जो विशुद्ध धार्मिक कारणों से मीलों पैदल चलते हैं और तमाम कष्टों में भी जिनकी श्रद्धा अक्षुण्ण रहती है। हाल में एक चैनल पर चल रही बहस में एक सामान्य से भागीदार का यह कथन कि कांवड़ियों के पास से गुजरते हुए उस दहशत सी होती है, इन हजारों लाखों सच्चे श्रद्धालुओं का अपमान है। सरकार अराजकता के समक्ष समर्पण कर इनके भक्ति भाव का भी अपमान कर रही है।

-विवेक कुमार

ज्योति मौर्य के किस्से का सच या झूठ

प्रीति अज्ञात

जो भी हो लेकिन ज्योति मौर्य नाम से कुछ लोगों को स्थिरों को कोसने का एक बहाना अवश्य मिल गया है। ये मात्र कोस ही नहीं रहे बल्कि यह भी इंगित कर रहे हैं कि जैसे उसके पति ने उसे पढ़ाकर कितनी बड़ी भूल कर दी। इसीलिए वे उस पुरुष को महान बताने से भी नहीं चूकते! लेकिन इस चरम आनंद में वे यह भूल रहे हैं कि गरीब माता-पिता भी पेट काटकर अपने बच्चों को शिक्षा देते हैं और अमीर माता-पिता भी अपने बच्चों को उच्च शिक्षा के लिए विदेश भेजते हैं लेकिन क्या इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि अब वे सभी बच्चे किसी प्रतिष्ठित नौकरी को पा ही लेंगे? नहीं, न! क्योंकि अंततः यह बच्चे की मेहनत और लगन तय करती है कि वह सफलता प्राप्त करेगा या नहीं। प्रायः बच्चों की दुनिया में उनकी अपनी पढ़ाई के लिए बहुत समय होता है और शेष सुविधाएं भी उनके साथ होती हैं। लेकिन एक विवाहित स्त्री के लिए यह सबसे बड़ी चुनौती है।

पहाना तो छोड़िए, घर-परिवार, ससुराल, मायका, सामाजिक दायित्व, घरेलू कार्य और बच्चों की स्कूली रेस में वह इतना खत्म हो चुकी होती है कि अपने शोक पूरे करने तक का समय उसके पास नहीं होता! हर स्त्री के जीवन में यह 'वनवास' आता है और वह इसे सहर्ष स्वीकारती भी है। बच्चों के बड़े होने के बाद वह अपने बचपन के सपनों को टटोलकर देखती है कि वे जीवित हैं या मृत हो चुके। जो जीवित हैं तो उन्हें गले लगा सजाने-संवारने की फिर एक कोशिश करती है हालांकि यह राह भी आसान नहीं और हर मोड़ पर उसे संघर्ष का सामना करना पड़ता है। इसलिए वे लोग जो इस खबर की आड़ में यह सिद्ध करना चाह रहे कि कुछ बनकर स्थिरों के दिमाग खराब हो जाते हैं, वे जरा कुछ 'महान' पुरुषों के जीवन पर भी दृष्टिपात्र कर लें।

जी हाँ, पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष तो सदा से ही महान रहा है। बड़े पद पर पहुंचने के बाद अपनी पत्नी को छोड़ने वाले ऐसे लाखों पुरुष मिल जाएंगे, जिनकी पतियां आज भी कहीं दूर गांव में उनकी प्रतीक्षा कर रही हैं। उनके बच्चे और परिजन किस हाल में हैं, वे बड़े साब पलटकर पूछते तक नहीं!

कोसने वाला वर्ग उन पुरुषों की बात नहीं करता जो पढ़-लिखकर अपने माता-पिता को बृद्धाश्रम में छोड़ आते हैं या उन्हें घिसट-घिसटकर मरने की मजबूर कर देते हैं। जो अपनी पतियों के दिन-रात घर में खटने के बाद रोज उसे कहते हैं कि "तुम सारा दिन करती ही क्या हो!" और ऐसे लोग हर क्षेत्र में भरपूर हैं। बड़े-बड़े पदों पर बैठे मिल जाएंगे। लेकिन इन्हें द्युक कर सलाम किया जाता है। क्या मजाल कि इस संदर्भ में किसी के मुंह से एक शब्द भी निकल जाए!

हमारी पौराणिक गाथाओं में भी उन चरित्रों का महिमांडन है जो अपनी पत्नी और इस सांसारिक दुनिया को त्याग महान बन पूजे जाने लगे। ये संसार की भलाई को निकले थे इसलिए इनके यशोगान से मुझे कोई आपत्ति नहीं। मुझे किसी के यशोगान से